शहादत गाहे कर्बला

सैय्यिदुल उलमा के ख़ुतबे (5)

सैय्यिदुल उलमा[ता॰स॰] की यह तक़रीर ऑल इण्डिया रेडियो स्टेशन लखनऊ से 11 मुहर्रम 1363[हि॰] में प्रसारित हुई।

किस के दिल में इतनी ताक़त है कि वह आज शहादत ज़ारे कर्बला की सैर करे।

एक दिल उलझाने वाली ख़ामोशी, एक दम घुटाने वाली उदासी— वह क़ाफ़िला जो दूसरी मुहर्रम को इस सरज़मीन पर उतरा था आज अपना सामान बाँध कर चला जा चुका है इसलिए सन्नाटा छाया हुआ है यक़ीनन यह मंज़िल दिल हिला देने वाली है मगर इन्सान भी अजीब चीज़ है वह हर नए हादसे की हालत देखने की चाहत रखता है। चाहे बाद में उसको तकलीफ़ भी पहुँचे फ़िर भी वह वाक़ेआत मालूम ज़रूर करता है। जब ऐसा है तो ज़रा दिल मज़बूत करके मेरे साथ चलो और कर्बला के मुख़तलिफ़ मन्ज़र की इस वक़्त सैर करो।

वह देखो एक बेशुमार ख़ेमों और छूलदारियों का सिलसिला, जिनमें से अक्सर में चराग़ रौशन हैं। और वह बहुत से ख़ेमों के झुरमुट में एक बड़ा ख़ेमा, जिसमें तेज़ रौशनी है— ज़रूर यह रौशनी तुम्हारी निगाह को सबसे पहले खींचेगी इसलिए चलो यहाँ देख लें कि क्या हो रहा है। यह यज़ीदी फ़ौज के कमाण्डर उमरे साद का ख़ेमा है जहाँ इस वक़्त जीत की ख़ुशियाँ मनाई जा रही हैं। तमाम बड़े अफ़सर इकटठा हैं। पैग़म्बरे इस्लाम[स॰] के नवासे का तीन दिन की भूख प्यास में ज़ुल्म के ख़ंजर से गला काटने वाले अपने कारनामे पर नाज़ कर रहे हैं और एक-एक शहीद की बहादरी के तज़किरे के साथ उसके क़त्ल करने वाले की तारीफ़ें हो रही हैं अगरचे सैकड़ों ख़ेमों से इस वक़्त ज़ख़्मी लोगों की कराह की आवाज़ और बीसियों ख़ेमों से क़त्ल हो जाने वालों के ग़म में ग़म और मातम की आवाज़ें भी बलन्द हैं मगर नतीजे की कामयाबी ने कानों को इस तरह की आवाज़ों से बन्द कर दिया है और शराबे नाब के दौर के साथ जीत और कामयाबी का नशा सबको बेख़ुद बनाए हुए है।

यक़ीन है कि तुम सीने में एक शरीफ़ इन्सानी दिल रखते हो इसलिए इस मन्ज़र को देखकर ख़ुशी में शरीक होने के बजाए नफ़रत और हिक़ारत के जज़्बात महसूस करने लगोगे, तुम्हारा ज़मीर मलामत करेगा और तुम्हारी इन्सानियत चीख़ उठेगी। भला वह जीत भी कोई जीत है जिसे कम से कम तीस हज़ार की फ़ौज बहत्तर भूखों और प्यासों के मुक़ाबले में अपने अनगिनत सिपाहियों को खोकर जंगे मग़लूबा से हासिल करे। वह बहत्तर जिनमें सब लड़ने के क़ाबिल भी न हों बल्कि उनमें अस्सी बरस का बूढ़ा और छः महीने का बच्चा भी शामिल हो। क्या इस जीत पर नाज़ करना नीचता और पस्त निगाही नहीं है? क्या यह जीत हक़ीक़त में जीत है? नहीं-नहीं वह हार है जिसकी ज़लालत की गर्द उस फ़ौज और उसकी ज़ालिम हुकूमत पर हमेशा के लिए छाई होगी।

यह ख़यालात यहाँ ऐशो आराम, ख़ुशी और मसर्रत के बाजों और नाले व नोश की दिलचस्पियों को एक हस्सास दिल के लिए बेमज़ा बना देते हैं— जी घबराने लगता है और अचानक दिल चाहता है कि यहाँ से निकल कर मैदान की खुली हवा में साँस लेकर ग़म ग़लत किया जाए— वह देखो— नहरे फ़ुरात लहरें ले रही है— पानी दूर से नज़र आ रहा है क्योंकि रास्ता साफ़ है। वह पहरा जो तीन दिन से इस पानी पर बैठा हुआ था उठ चुका है। वह हज़ारों सिपाहियों के पहरे जो रात दिन जमे रहते थे आज हटाए जा चुके हैं। इसलिए कि वह शेर जिनको नीम जान बनाने के लिए पानी की

बन्दिश हुई थी लड़भिड़ कर ख़त्म हो चुके हैं।

दरिया का कनारा परेशान दिल के सुकून के लिए बेहतरीन जगह है। मगर दरिया के साहिल पर ख़ून की बू आ रही है— मौत के क़दमों के निशान हर तरफ़ नज़र आते हैं। किसी शेर के नारों की सदा अब तक गूँज रही है। गिरे हुए ख़ून का सिलसिला रहनुमाई करता हुआ आगे ले जाता है, क़दम ठिठकते हैं, दिल धड़कता है, एक ला मालूम दबदबे का एहसास दूर बाश की सदा देता है— ग़ौर से देखो तो मालूम होगा कि तराई में एक शेर आराम कर रहा है जिसके आसपास बहुत दूर तक साहिल की तमाम बालू ख़ून से गुंधी हुई है। तमाम जिस्म ज़ख़्मों से चूर है, सर फटा हुआ है, हाथ दोनों जिस्म से अलग हैं मगर कटे हुए हाथ के शाने में मश्क की डोरी अब तक फंसी हुई है। वह मश्क जिसमें सूराख़ है और उसका पानी तमाम बह चुका है जिसने बहादर के जिस्म से बहे हुए ख़ून की रवानी में इज़ाफ़ा करके मक़तल की ज़मीन को दूर तक रंगीन बना दिया है। ढाल तो बहुत दूर पड़ी है मगर तलवार मुँह के क़रीब है झण्डा जो हवा में लहरा रहा था वह अब ज़मीन पर है मगर बहादर का सीना, अलम का अब भी मुहाफ़िज़ है।

यह है अली[अ०] का शेर, हुसैन[अ०] का कुव्वते बाज़ू और अलमदार, प्यासी सकीना को पानी पिलाने वाला, बनी हाशिम का चाँद अब्बास[अ०], जो हुसैनी फ़ौज का सबसे आख़िरी सिपाही था। जिसने सबसे आख़िर में हुसैन[अ०] से जेहाद की इजाज़त माँगी मगर इमाम[अ०] ने फ़िर भी लड़ने की इजाज़त नहीं दी। सिर्फ़ बच्चों की प्यास बुझाले के लिए सबील करने का हुक्म दिया। वफ़ादार अब्बास[अ०] की यह यादगार कामयाबी थी कि वह फ़ौज का पहरा हटाकर मश्क में पानी भर लेने में कामयाब हुए। मगर अफ़सोस भरी हुई मश्क को लेकर खेमे तक पहुँचना मुमकिन न हुआ— तीर ने मश्क को छेदकर तमाम पानी बहा दिया और अब्बास[अ०] ने सैकड़ों ज़ख़्म खाकर अपने जिस्म का तमाम ख़ून बहा दिया।

अब्बास[अ०] मश्क और अलम के होते हुए भी दुश्मन के एहसास में बेबस नहीं थे। आख़िर दोनों हाथ अलग कर दिये गये फ़िर भी अब्बास[अ०] जब तक ख़ुद घोड़े से नहीं गिरे अलम को ज़मीन पर गिरने नहीं दिया। मगर वह अलम इसके बाद भी हक़ीक़त में गिरने नहीं पाया। आज हज़ारों अलम इसी एक अलम की याद में हज़ारों कांधों पर उठ रहे हैं और हर ताज़िया ख़ाने में हुसैन[अ०] के नाम की ज़रीह तो एक होती है मगर अलम बहुत से लगे होते हैं। यह इशारा है इसका कि अब्बास[अ०] तो दुनिया में न रहे मगर उनका अलम आज तक ऊँचा है और हमेशा ऊँचा रहेगा क्योंकि हक़ का झण्डा कभी नहीं झुकता है।

यह मन्ज़र अगर एक तरफ़ दिल में जोश, वलवला और हक़ पर मर मिटने का हौसला पैदा करता और रगों में ख़ून की रफ़्तार बढ़ाता है तो दूसरी तरफ़ एक ऐसे बहादर की लाश का यह जाँफ़रसा आलम दिल की रगें भी तोड़ने लगता है। अपने आप आँखों से आँसू जारी होते हैं। यह आँसू बुज़दिली के नहीं बल्कि बहादरी की क़द्र और क़ीमत के एहसास का नतीजा हैं और इरादे और हिम्मत की आग को बुझाते नहीं बल्कि उसके शोलों को बढ़ा देते हैं।

दिल तो चाहता है कि हसरत के इसी एक मन्ज़र में डूब जाए मगर साहिल की बुलन्दी से ख़ून में तलपत मैदान साफ़ नज़र आता और निगाह को कशाँ-कशाँ अपनी तरफ़ ले जाता है।

यहाँ कोई एक ही मन्ज़र नहीं है जो तवज्जोह का मरकज़ बन सके बल्कि सचमुच "शहादत ज़ार" तो यही जगह है। दूर तक ख़ून का छिड़काव है जगह-जगह ख़ून के थाले बंध गए हैं। टूटे हुए नेज़े, टूटी तलवारें, कटे हुए तीरों के अम्बार हैं जो इधर-उधर लगे हुए हैं दुश्मनों के सर हज़ारों की तादाद में ज़मीन पर लुढ़क रहे हैं और लाशे भी बहुत दूर तक नज़र आते हैं। इन सब के बीच में बहत्तर या ज़्यादा से ज़्यादा सवा सौ नूरानी मुजस्समे ख़ाक व ख़ून में डूबे हुए इस हाल में हैं कि किसी का जिस्म तीरों से छलनी है, किसी का सर गुर्ज़ से फटा, किसी का पहलू ख़न्जर से चाक और किसी का सीना नेज़े का कटा है।

इनमें साठ, सत्तर और अस्सी बरस तक के बुढ़े, 18 से लेकर 35 बरस तक के जवान और ग्यारह बारह बरस तक के कमसिन बच्चे भी हैं— हाशमी ख़ानदान के जवानों बल्कि बच्चों तक की सजधज सबसे अलग

है। उनमें एक चाँद का टुक्ड़ा तलवार का फल खाए इस शान से पड़ा है कि अमामे के पेंच ख़ून से रंगीन होकर लटक आए हैं और हसीन चेहरे पर सेहरे की तरह छा गऐ हैं।

हाथों में ख़ून की मेंहदी और सीने पर ज़ख़्मों की बध्धी है यह है हसन^{अ०} का यतीम और हुसैन^{अ०} का अज़ीज़ भतीजा क़ासिम जिसे रुख़सत करते वक़्त इमाम ने मरहूम भाई की वसिय्यत को पूरा करते हुए अपना दामाद भी बना दिया था ...... कर्बला-ए-मुअल्ला में ख़ेमागाह के अन्दर उनकी यादगार में ख़जल-ए-उरूसी बना है और हिन्दुस्तान में इनकी याद में सातवीं तारीख़ मेंहदी उठती है।

इन्हीं के पास अटठारह बरस के कड़ियल जवान का लाशा है, जिसके सेहरे के फूल खिलने की नौबत न आई, यह अली अक्बर^{अ०} हैं जिन्हें हुसैन^{अ०} इसलिए बहुत अज़ीज़ रखते थे कि वह बिल्कुल रसूलुल्लाह^{स०} की तस्वीर थे। इनके रुख़सत होते वक़्त हज़रत इमाम हुसैन^{अ०} ने अपने ख़ालिक़ को गवाह करके कहा था कि जब हम रसूल^{स०} की ज़ियारत करना चाहते थे तो इसके चेहरे को देख लेते थे। आज अच्छे अक़ीदे वाले मुसलमान रसूल^{स०} की नालैन की शबीह की भी जो काग़ज़ पर बनी हो इज़्ज़त करते हैं मगर अफ़सोस वह कैसे मुसलमान थे जिन्होंने खुद रसूल^{स०} की जीती जागती हुई शबीह का ख़याल न किया। वह ख़ूबसूरत और पाक जिस्म तलवारों से टुकड़े-टुकड़े कर दिया।

अली अकबर^{अ०} को देखते ही दिल में अली असग़र^{अ०} का ख़याल आता है। वह छः महीने का बच्चा जिसे हुसैन^{अ०} ने शहादत के मैदान में सबसे आख़िर में पेश किया था जो प्यास से तड़प रहा था मगर उसकी प्यास पानी से नहीं बल्कि तीर से बुझाई गई। इनकी लाश तलाश करने पर भी शहीदों में नहीं मिलती। हाँ ज़मीन पर एक छोटी सी क़ब्र बनी हुई है। यह असग़र^{अ०} की तुरबत है। इस बच्चे को खुद इमाम हुसैन^{अ०} ने शहादत के बाद ही दफ़्न कर दिया था। शायद इसलिए कि उम्मते रसूल^{स०} का यह जुर्म इतना संगीन था कि फ़रज़न्दे रसूल^{स०} की इन्सानी ग़ैरत को खुद इस मन्ज़र के सामने रहने से शर्म आती थी।

सबसे आख़िर में निगाह गहराई की तरफ जाती है और वहीं ठहर जाती है। यहाँ पाकीज़गी का माह पैकर, नूरानी शुआओं का ख़ज़ाना ख़ूनीं शफ़क़ के अन्दर चमकता हुआ सूरज, एक पूरी तरह से लाशा ऐसा पड़ा हुआ है जिसका सर पहले ही जुदा हो चुका है, इसलिए सूरत से तो पहचाना नहीं जा सकता मगर ज़ख़्मों की कसरत बताती है पूरी जंग का अस्ली मक़सद और दुश्मनियों का आख़िरी मरकज़ यही था। टूटी कमर ज़ाहिर करती है कि यह वह है जिसका बराबर का भाई मार डाला गया। बाज़ू तीर से छिदा हुआ ख़बर देता है कि यह वह है जिसके हाथों पर छः महीने का बच्चा तीरे सितम का निशाना बना, ख़ून से रंगीन हाथ पता देते हैं कि वह है जिसने बेशीर का ख़ून चेहरे पर मल लिया था। सीने पर कुशादा घाव और पीठ के पार इसका निशान बतला रहा है कि वह है जिसके सीने पर तीर पड़ा तो सामने से निकल न सका, आख़िर पीठ की तरफ़ से उसे खींचा और सीने से ख़ून परनाले की तरह जारी हुआ। जिस्म के अलग-अलग टुक्ड़े इसकी दलील हैं कि यह वो है जिसका जिस्म शहादत के बाद घोड़ों की टापों से पामाल किया गया।

इन खुसूसियतों से साफ़ मालूम होता है कि यह है शराफ़त की जान, इन्सानियत की रूह, सच्चाई का मुजस्समा, पैग़म्बरे इस्लाम^{स०} की निशानी, अली^{अ०} का फ़रज़न्द हुसैन^{अ०} जो कर्बला के मुजाहिदीन का सरदार और इस हमेशा याद रहने वाले कारनामे की मरकज़ी शख़सियत है। जिसने जान दे दी मगर हक़ और सच्चाई पर आँच न आने दी जिसने इस्लाम पर अपनी हर चीज़ कुरबान कर दी और बक़ौल ख़्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती अजमेरी^{र०अ०} 'कलम-ए-लाइलाह इल लल्लाह की फिर से बुनियाद क़ायम कर दी'।

आज हर साल दुनिया के तमाम मश्रिक़ व मग़रिब में, मुहर्रम में इन्हीं का सोग मनाया जाता है और इन्हीं की याद है जो अलग-अलग तरीक़ों पर बराबर ताज़ा की जाती है। और तेरह सदियों से हर साल के बाद दूसरे साल इसमें इज़ाफ़ा ही होता रहा है।

तारीख़े इस्लाम में कर्बला के वाक़िए की अहमियत

सैय्यिदुल उलमा ताबा सराह की यह तक़रीर रबीउल अव्वल 1365[हि॰] मुताबिक़ 9 फ़रवरी 1946[ई॰] को मुख़तलिफ़ मज़हब के हज़ारों आदमियों के मजमे में गंगाप्रसाद मेमोरियल हाल, अमीनाबाद, लखनऊ में हुई

तारीख़े इस्लाम की शुरुआत कब से होती है? मज़हबी नुक़त-ए-नज़र से तो इस्लाम उस वक़्त से शुरु होता है जबकि दुनिया वजूद में भी न आई थी और आदम[अ॰] और दूसरे अम्बिया और मुरसलीन[अ॰] इस्लाम ही का पैग़ाम लेकर दुनिया में आए लेकिन मज़हबी अक़ीदों से हटकर ख़ालिस तारीख़ी हैसियत से इस्लाम की तारीख़ की शुरुआत उस वक़्त से होती है कि जब से हज़रत मुहम्मद मुस्तफ़ा[स॰] नबी बनाकर भेजे गये।

उस वक़्त की हालत यह थी कि दुनिया के कई मुल्कों में जिन रहनुमाओं की तालीम जारी थी उनमें किसी में भी हमगीर इन्सानी बिरादरी का तख़ैय्युल मौजूद न था बल्कि यह तालीम सिर्फ़ एक क़ौम, एक मुल्क और एक ज़माने में महदूद थी। हिन्दुस्तान ही को ले लीजिये यहाँ जिस तरह की तालीम चलती थी उसने अपने पैग़ाम को समुन्द्र की हदों का पाबन्द बना दिया था। वह अपने मानने वालों को समुन्द्र के पार करने की इजाज़त नहीं देता था तो उसे समुन्द्र पार बसने वालों की इस्लाह (सुधार) की फ़िक्र क्या होती।

दूसरा बड़ा मज़हबी इदारा ईसाइयत (Christianity) का था, उसकी तालीम का नज़रिया जो रायज बाइबल में पाया जाता है इसी से ज़ाहिर है कि वह अल्लाह को सिर्फ़ बनी इस्राईल का बाप क़रार देता है। अगर अल्लाह को सिर्फ़ उसके रहमो करम और इनायत की बिना पर बाप के नाम से ताबीर किया जा सके तो उसकी रहमत का मुस्तहक़ दुनिया के सारे इन्सानों को होना चाहिए मगर ईसाइयत की मज़हबी तालीम इस वसीउन्नज़री से ख़ाली थी।

ख़ुद अरब के लोग अपने मुक़ाबले में दुनिया की किसी क़ौम को कुछ नहीं समझते थे। उन्होंने अपना नाम रखा था ''अरब'' यानी दिल की बात को ज़बान से ज़ाहिर कर सकने वाले और अपने सिवा दूसरी क़ौमों को कहते थे ''अजम'' यानी गूँगे। इसके माने यह हैं कि वह अपने सिवा दूसरी क़ौमों की ज़बानों को इन्सानी ज़बान मानने के लिए तैयार न थे बल्कि जैसे जानवर कुछ आवाज़ें मुँह से निकालते हैं वैसी ही दूसरी क़ौमों की बोलियाँ हैं।

ऐसे ज़माने में हज़रत मुहम्मद मुस्तफ़ा[स॰] इस्लाम का पैग़ाम लेकर आये जिसका ख़ास जौहर था ''बैनुलअक़्वामियत'' यानी वह सिर्फ़ अरबों के लिए नहीं बल्कि दुनिया की तमाम क़ौमों के लिए था। अभी तक किसी ने इतना बड़ा दावा नहीं किया था। उन्होंने सभी इन्सानों को भाइचारगी और बराबरी का सबक़ दिया। ज़ात-पात के बदनुमा दाग़ों को इन्सानियत के दामन से धो डाला। सारे इन्सानों पर एक ही तरह के फ़रीज़े आएद किये और सबके हुक़ूक़ बराबर रखे। आप ने आम एलान कर दिया ''कोई फ़ख़्र नहीं क़रशी को ग़ैरे क़रशी पर और न अरबी को ग़ैरे अरबी पर सब आदम की औलाद हैं। अल्लाह ने तुम सबको एक जान से पैदा किया है।''

यह अब हमें आसान मालूम होता है जबकि हमारे कान सुनते सुनते आदी हो चुके हैं लेकिन जिस ज़माने में रसूल[स॰] इन ख़यालात को फैला रहे थे उस वक़्त दुनिया इनसे बिल्कुल अन्जान थी। उस वक़्त दुनिया की तमाम क़ौमों में भाईचारे के बर्ताव का क़ायम किया जाना कैसा अपने ही मुल्क और क़ौम के दूसरे क़बीले के लोगों की अपने सामने कुछ हक़ीक़त न समझते थे। इस माहौल के एतेबार से रसूल[स॰] का यह इक़दाम एक बड़ी ग़ैर मामूली हैसियत रखता था। कहने से करना मुश्किल है। रसूल[स॰] ने ज़बानी ही तालीम न दी बल्कि हर मौक़े पर ख़ुद अमल करके दिखाया। उन्होंने अपने हाथों से दुनिया के सामने एक बैनुलअक़्वामी (International) क़ौम की तश्कील करके दिखा दिया जिसमें अगर एक तरफ़ हमज़ा[रज़ि॰] और जाफ़र[रज़ि॰] ऐसे क़रशी थे तो दूसरी तरफ़ अबुज़र ग़फ़्फ़ारी[रज़ि॰] और मिक़दाद कनदी[रज़ि॰] ऐसे ग़ैर क़रशी और फ़िर सलमान फ़ारसी[रज़ि॰], बिलाल हबशी[रज़ि॰] और सुहैब रूमी[रज़ि॰] ऐसे ग़ैर अरब। इतना ही नहीं बल्कि सलमान[रज़ि॰] को ''मिन्ना अह्लिल बैत'' कह कर इज़्ज़त देने के लिए अपने ख़ानदान में मिला लिया और बिलाल[रज़ि॰] को मोअज़्ज़िन के ओहदे पर फ़ाएज़ करके यह भी बता

दिया कि अगर कोई शख़्स किसी ऊँचे ओहदे और मन्सब का अपने ईमान और अमल से हक़्दार हो तो उसमें रंग, नस्ल और मुल्क के फ़र्क़ की हरगिज़ परवाह नहीं करना चाहिए।

सच्चा सुधार करने वाला वही है जो माहौल के ख़िलाफ़, आम राय की मुख़ालेफ़त की परवाह न करते हुए ज़रूरी क़दम उठाये।

रसूले[स०] खुदा खुदा की तरफ़ से पूरी दुनिया के सामने एक ऐसी तालीम को पेश करना चाहते थे जो उसे बुलन्द इन्सानी सतह पर पहुँचा दे इसीलिए उन्होंने सारी दुनिया की क़ौमों के सामने ऐसा अन्दाज़ अपनाया जिसमें अक़्ल और इन्साफ़ के हिसाब से झगड़े की वजह नहीं हो सकती थी। अगर वह सारे पिछले मज़हबी पेश्वाओं में इसका फ़ैसला करने के लिए खड़े हो जाते कि कौन पेश्वा हक़ीक़त में रिसालत के मन्सब पर फ़ाएज़ थे और कौन नहीं थे तो वहीं से एक जंग इन शख़्सियतों के बारे में क़ायम हो जाती जिसका कोई अमली नतीजा इन्सानी किरदार के बेहतर होने के लेहाज़ से न था इसलिए उन्होंने दुनिया की क़ौमों के पिछले पेश्वाओं में से किसी को कुछ नहीं कहा। बल्कि क़ुर्आन में कुछ के नाम के साथ यह एलान कर दिया कि ''कुछ पैग़म्बरों का हम ने तुम्हारे सामने ज़िक्र किया है और बहुत से पैग़म्बरों का ज़िक्र नहीं किया है।'' हर एक मज़हब के पिछले पेश्वा के लिए यह इम्कान बाक़ी रह गया कि उसका शुमार भी एक लाख चौबीस हज़ार पैग़म्बरों में हुआ और इस तरह यहूद के लिए जिस तरह यह मौक़ा है मूसा[अ०] की बड़ाई के क़ायल रहते हुए, ईसाइयों के लिए मौक़ा है ईसा[अ०] की अज़मते बशरी को मानते हुए इस्लाम के दायरे में दाख़िल हो जाएं, उसी तरह पारसियों के लिए मौक़ा हासिल है ज़रदश्त की अज़मत को मानने के साथ, हिन्दुओं के लिए मौक़ा है अपने पिछले पेश्वाओं की अज़मत को इन्सानी हदों में मानने के साथ इस्लाम के पैग़ाम को क़बूल कर लें। अब गुज़िश्ता शख़्सियतों के एहतेराम और अद्मे एहतेराम पर कोई बहस नतीजा निकालने वाली भी नहीं जबकि आइन्दा के लिए लाएह-ए-अमल सबकी तरफ़ से एक क़बूल कर लिया जाए और वह वही कि जिसे इस्लाम दुनिया के सामने पेश कर रहा है।

यही है बैनुलअक़्वामी (International) जमाअत को एक मक़सद पर एक करने का सही तरीक़ा जिसे इस्लाम ने अपनाया और उसमें कामयाबी हासिल की बेशक क़ुरआन अरबी ज़बान में उतरा। उसमें एक पहलू था इसका कि अरब क़ौम जो दूसरों पर बरतरी के दावेदार थी इसे अपने लिए फ़ख़्र की चीज़ क़रार देती मगर क़ुरआन ने इस की वज़ाहत करके अरब के इस फ़ख़्र को ख़त्म कर दिया। उसने साफ़ अल्फ़ाज़ में कह दिया जिसका मतलब इस तरह है कि क़ुरआन के अरबी ज़बान में नाज़िल होने की वजह सिर्फ़ यह है कि अरबों में जेहालत और तंगनज़री ऐसी है कि अगर यह किसी और ज़बान में नाज़िल होता तो यह ईमान न लाते इसके ख़िलाफ़ दूसरी क़ौमों के वह इस तंगनज़री से दूर हैं। वह क़ुरआन के अरबी में होने के बावजूद ईमान लाने के लिए तैयार हो सकती थीं इसलिए क़ुर्आन अरबी में उतारा गया। इस तरह क़ुरआन ने जो एक पहलू अरब की बरतरी का पैदा होता था उसे ख़त्म कर दिया। इससे साफ़ ज़ाहिर है कि इस्लाम की बैनुलअक़्वामियत के यह मानी न थे कि एक क़ौम यानी अरब का ग़लबा तमाम दूसरी क़ौमों पर हो जाए बल्कि इसके मानी यह थे कि अरब और तमाम दूसरी क़ौमें एक ही तरह इस्लाम के बलन्द अक़्ली नज़रियात और उसूले अख़लाक़ी और इज्तेमाई को मान कर बस एक क़ौम बन जाएं इस तरह वह किसी से कोई चीज़ छीनने पर नहीं तुला था, बल्कि सब को बराबर से कुछ देने के लिए आगे बढ़ रहा था और इसी लिए किसी दूसरी क़ौम का आदमी इस्लाम क़बूल करके किसी शिकस्त या हार का एहसास नहीं करता था बल्कि फ़ख़्र और नाज़िश महसूस करता था।

इस्लाम की इन तालीमात में जब्र और ज़बरदस्ती का कोई सवाल ही नहीं था। उसने साफ़ एलान कर दिया कि ''दीन में ज़बरदस्ती नहीं'' बल्कि मज़हब फ़ैलाने का सिर्फ़ एक ज़रिया था कि अपनी हक़्क़ानियत और अमल से दिलों को जीता जाए और अपने उसूल को दुनिया के सामने इस तरह पेश किया जाए कि वह इससे मुतास्सिर होकर इसकी ख़ूबियों पर ग़ौर करे और मुसलमान हो।

यह है इस्लामी तारीख़ के पहले दौर का वह सरसरी बयान जिससे इस्लाम के बुलन्द मक़सद और रसूल[स०] के

तबलीग़ी तरीक़े का एक तसव्वुर ज़हन में आ जाता है। इसके बाद तारीख़ का वरक़ उलटता है। रसूल[स०] की वफ़ात होती है और मुसलमानों की जीत का दौर शुरु होता है।

कोई शक नहीं कि इन कामयाबियों की बुनियाद इसी बैनुलअक़्वामी ख़याल पर थी जो इस्लाम ने मुसलमानों के दिमागों में पैदा किया था मगर इस बैनुलअक़्वामियत को हासिल करने में पैग़म्बर[स०] के काम करने के तरीक़े पर आम तौर से ग़ौर नहीं किया गया या निगाहें इसकी तह तक नहीं पहुँची और न ही पहुँचना चाहिए था क्योंकि पैग़म्बर की गहरी नज़र की उम्मीद उम्मतियों के अवाम से कि जिनका जमहूर नाम है बेकार सी चीज़ है। पैग़म्बरे इस्लाम[स०] की नज़र में भी जीतें थीं और मुसलमानों की नज़र भी जीत पर रही मगर जीत के मतलब में दोनों जगह फ़र्क़ था। मुसलमानों की जीत यह थी कि दूसरों के मुल्क उन से लेकर अपने बना लिये जाएं और पैग़म्बरे इस्लाम[स०] की जीत यह थीं कि दूसरों को ख़ुद अपना बना लिया जाए जिसका नतीजा यह है कि उनका मुल्क अपना हो जाए। पहली क़िस्म की जीतों में ज़मीनों पर क़ब्ज़ा किया जाता है और दूसरी क़िस्म की जीतों में दिलों को अपना बनाया जाता है।

यह जीतें जिन्हें मुसलमानों ने अपना मक़सद बनाया इससे मुल्क तो अपने हो गये मगर मुल्कों के रहने वाले इन जीतों से हरगिज़ अपने नहीं हो सकते थे बल्कि इस तरह की जीत की एक ख़ास बात यह है कि इस जीत से हारने वाली क़ौम में जीतने वाली क़ौम के लिए नफ़रत पैदा होती जाती है जब दिल में नफ़रत का जज़्बा पैदा होगा तो अच्छाइयों पर नज़र नहीं जाएगी और जब अच्छाइयाँ देखी न जाएंगी तो दिलों में ईमान का रुज्हान क्या पैदा होगा।

इस तरह की जीतों का नतीजा यह होता है कि हारने वाली क़ौम जीतने वाली के ख़िलाफ़ जुर्म साबित करे और सही या ग़लत ज़ुल्मों की कहानी दुहराए। तारीख़ पर नज़र डालिये तो इस्लामी जीतें इससे अलग नज़र न आएंगी।

मान लिया जाए कि कुतुबख़ान-ए-इस्कंदरिया के जलाने का इल्ज़ाम ग़लत है मगर इस ग़लत इल्ज़ाम का लगाया जाना और बिल्कुल ऐसे ही इल्ज़ाम का ईरान की तरफ़ से लगाया जाना जिसे मौलाना शिब्ली ने 'शेरुलअजम' में भी नक़्ल किया है यानी यह कि ईरान की क़दीम शायरी...... और अदबी लिट्रेचर का ज़ख़ीरा बाक़ी नहीं रहा इसलिए कि मुसलमानों ने ईरान के तमाम क़दीम सरमाये को बर्बाद कर दिया और इन ग़लत इल्ज़ामों का बिल्कुल एक ही तरह से दो मुल्कों की तरफ़ से लगाया जाना खुद इसका सुबूत है कि जीते हुए मुल्कों को जीती हुई जमाअत के साथ कोई हमदर्दी नहीं थी जबकि झगड़ा था वैसा ही जैसा कि हर हारने वाली क़ौम को जीतने वाली क़ौम से हुआ करता है।

रसूल[स०] ने दिखा दिया था कि देखो मुल्क इस तरह फ़तह किये जाते हैं। हज़रत अली[अ०] को यमन की जीत के लिए भेजा और उन्होंने बग़ैर एक बूँद ख़ून बहाए हुए सारे मुल्क को अपना बना लिया। मगर मुसलमानों ने इस मिसाल को याद नहीं रखा। और इसका लाज़मी नतीजा यह था कि मुल्क तो अपने हो जाएं मगर मुल्क वाले अपने न हों।

आले मुहम्मद[स०] जिनके सरदार हज़रत अली इब्ने अबी तालिब[अ०] थे इस सूरते हाल को देख रहे थे और इसके नतीजे को महसूस कर रहे थे उन्होंने वक़्त की सियासी रफ़्तार की ज़रूरत की वजह से रुकावट ठीक नहीं समझी मगर उन्हें अलग-थलग और ख़ामोश रहकर भी इस काम को अन्जाम देना था जो पैग़म्बरे इस्लाम[स०] की क़ायम मक़ामी (जानशीनी) में उनके सामने था। अगरचे उनका काम बहुत मुश्किल हो गया था मगर एक फ़र्ज़ को पहचानने वाला शख़्स मुश्किलों से घबराकर अपने फ़र्ज़ को छोड़ा नहीं करता। उन्होंने अपना काम यह क़रार दिया कि ग़ैर मुल्क की ज़मीनों को मुसलमान अपने क़ब्ज़े में लाएं और उनके दिलों को आले मुहम्मद[स०] अपने अमल और सीरत की कशिश से अपना बनाएं और इस तरह उनमें इस्लाम से सच्ची हमदर्दी पैदा करें।

इसी मक़सद से हज़रत अली[अ०] ने अपनी ख़िलाफ़त के ज़माने में बजाए मक्के या मदीने के कूफ़ा को अपनी राजधानी बनाया। यह इराक़ का मरकज़ी शहर था जो ईरान और हिजाज़ दोनों के बीच में बसा हुआ है। कूफ़ा फ़ौजी छावनी था और छावनी में बदअख़लाक़ियां बहुत

होती हैं। ईरान के लोग जब यहाँ आते तो वह उन ही अख़लाक़ और किरदार को जो यहाँ नज़र आते इस्लामी किरदार ख़याल करते और इस वजह से इस्लाम के ख़िलाफ़ उनकी नफ़रत बढ़ती चली जाती।

जनाबे अमीर[अ०] ने यहाँ रहकर और इसे ख़ानदाने रसूल[स०] और तरबियत दिये हुए सच्चे मुसलमानों की जमाअत का मरकज़ बनाकर यह मौक़ा दे दिया कि ईरान वाले क़रीब से इस्लामी अख़लाक़ और क़ानून को देखें और उसकी बलन्द इन्सानी ख़ासियतों को महसूस करें। जबकि आप अमली (Practically) तौर से उसी बैनुलअक़्वामी बराबरी को सख़्ती से निबाह कर दुनिया को दिखा रहे थे जो पैग़म्बरे इस्लाम ने दुनिया के सामने पेश की थी। जहाँ क़ुरैश से अलग मालिके अश्तर की इतनी इज़्ज़त थी जितनी बड़े-बड़े ख़ानदानी क़ुरैशियों की न थी। और क़म्बर ग़ुलाम के साथ वह रिआयतें थीं जो बहुत से अरबों के साथ न थीं। जहाँ इन्सानी हुक़ूक़ में बराबरी का इतना ख़याल और मुल्की और ग़ैर मुल्की फ़र्क़ के ख़िलाफ़ जेहाद में इतना एहतेमाम था कि अरब शहंशाह ज़ादा (उबैदुल्लाह इब्ने उमर) ने अगर एक ईरानी ''हुरमुज़ान'' का नाहक़ क़त्ल कर दिया था और पिछली हुकूमत के ज़माने में क़ातिल की शख़सियत के असर से उसका बदला नहीं लिया गया था तो अब हज़रत अली इब्ने अबी तालिब[अ०] ख़लीफ़ा होने के बाद एलान कर देते हैं कि उस ईरानी के ख़ून का बदला लिया जाना क़ातिल से ज़रूरी है। इस्लामी क़ानून में अरब और ग़ैर अरब और बड़े और छोटे के फ़र्क़ की जगह नहीं है। इसका नतीजा यह होता है कि अब्दुल्लाह बिन उमर जाकर हज़रत अली[अ०] की मुख़ालिफ़ जमाअत यानी मुआविया के साथ मिल जाते हैं और फिर जंग के मैदान में हज़रत अली[अ०] के मुक़ाबले में आकर क़त्ल होते हैं।

क्या इससे इस्लाम की उस बैनुलअक़्वामियत का जो उसका अनोखा निशान है ईरानियों को अन्दाज़ा न होगा और क्या इससे उन्हें इस्लाम के बलन्द उसूल के साथ हमदर्दी नहीं पैदा हुई होगी।

दूसरा वाक़िआ ईरान की शहज़ादी का हज़रत इमाम हुसैन[अ०] के अक़्द में आना ताकि ईरानियों और अरबों में मेलजोल का रिश्ता क़ायम हो जाए और मुल्क और क़ौम के फ़र्क़ को मिटा देने का अमली सबक़ दुनिया को दिया जाए। उस वक़्त जब ईरानी शहंशाह की बेटी के दामन पर कनीज़ी का दाग़ आ रहा था, अमीरुलमोमिनीन[अ०] ने अपने अज़ीज़ बेटे के साथ उसका अक़्द करके उसको इस्लामी दुनिया की मलिका बना दिया।

क्या इससे बढ़कर ईरान को इस्लाम का चाहने वाला बनाने की कोई सूरत हो सकती थी कि आगे आने वाले इस्लामी पेश्वा ज़ैनुलआबिदीन[अ०] अगर एक तरफ़ मुल्के अरब के दीनी शहंशाह (मुहम्मद[स०] व अली[अ०]) के पोते हैं तो दूसरी तरफ़ ईरान मुल्क के शहंशाह ''यज़्दजुर्द'' के नवासे भी हैं।

इसका नतीजा था कि मफ़्तूहाना तक़र्रुब जो ईरान को फ़ातेहे क़ौम और उसके मज़हब से होना चाहिए थी दूर हो गई और अगर रही भी तो सिर्फ़ उन लोगों से जिन्होंने सीधे तौर पर उन पर फ़ौजी चढ़ाई की थी लेकिन इस्लाम और इस्लाम के रहनुमाओं से मज़हबी तौर पर उन्हें कोई नफ़रत नहीं बाक़ी रही बल्कि दिली मुहब्बत और उलफ़त पैदा हो गई। इसका सुबूत यह है कि इसके बाद इस्लामी उलूम और मज़हब की जितनी ख़िदमत ईरान ने की उतनी ख़ुद अरब वालों को नसीब नहीं हुई।

चाहे बड़े फ़िरक़े के वह क़दीम और बीच के ज़माने के उलमा हों जैसे बैहक़ी, नेसाई, तबरी, राज़ी, दवानी, जुरजानी, नेशापूरी वग़ैरा और चाहे इमामिया फ़िरक़े के हर ज़माने के उलमा हों जैसे क़ुम्मी, तूसी, ख़्वान्सारी, अस्फ़हानी, रिश्ती, शीराज़ी, माज़िन्दरानी, तेहरानी, यज़्दी वग़ैरा सब ही ईरान की सरज़मीन से ताल्लुक़ रखते हैं।

एक और सुबूत ईरान के मज़हबी शौक़ का देखिये कि ईरान में जम्शेद का क़ायम किया हुआ तेहवार ''नौरोज़'' हमेशा मनाया जाता था। यह ''नौरोज़े जम्शेदी'' कहलाता था जो एतेदार रबीई के मौक़े पर क़ायम होता था इसके मुक़ाबिल ''मेहरगान'' तेहवार था जो एतेदाले हरीफ़ी के मौक़े पर यानी मौसमे ख़िज़ां (पतझड़) में होता था। ज़ाहिर है कि एक क़ौम को अपने क़ौमी तेहवारों और क़ौमी शख़सियतों के साथ मुहब्बत हुआ करती है मगर चूँकि नौरोज़ ही का दिन मुताबिक़ हो गया हज़रत अमीरुलमोमिनीन अली इब्ने अबी तालिब[अ०] की जानशीनी के दिन से तो ईरान ने अपने मख़सूस तेहवार की क़ौमी

खुसूसियत को कुरबान कर दिया उस मज़हबी खुसूसियत पर, जो उस तारीख़ को हासिल हो गई थी और नौरोज़ बजाए "नौरोज़े जम्शेदी" होने के "नौरोज़े इस्लामी" और "नौरोज़े अलवी" बन गया। अब इसमें इस्लामी नमाज़ पढ़ी जाती है और हज़रत अली इब्ने अबी तालिब[अ०] के औसाफ़ और फ़ज़ाएल बयान होते हैं और जमशेद के साथ जो इस दिन का ताल्लुक़ था वह सिर्फ़ तारीख़ के औराक़े पारीना की ज़ीनत बन कर रह गया है।

यह वारफ़्तगी और शेफ़्तगी मज़हब के साथ तलवार के ज़ोर से फ़तह से हासिल नहीं हो सकती बल्कि इसमें आले मुहम्मद[स०] के उस अख़लाक़ी जज़्ब की तासीर है जिसकी अमीरुलमोमिनीन हज़रत अली[अ०] ने शुरुआत की और आले मुहम्मद[स०] में से हर फ़र्द ने जिसको बरक़रार रखा और इमाम रिज़ा[अ०] ने अपनी वली-ए-अहदी के दौर और ख़ुरासान में रहने के दौरान लाज़वाल ज़िन्दगी बख़्श दी।

याद रखिये कि दुनिया के हर इन्सान के चाल-चलन का असर दूसरों पर पड़ता है। हर शख़्स अन्जाने तरीक़े पर अपने काम और हरकतों से दूसरों पर अच्छा या बुरा असर डालता रहता है और वह दूसरे अपने अलावह दूसरों पर असर डालते हैं यह सिलसिला नस्ल दर नस्ल चलता रहता है। इस लेहाज़ से किसी नेक शख़्स की पारसाई, रहमदिली, फ़ैय्याज़ी, मिलनसारी, हमदर्दी वग़ैरा ख़ूबियों को अहमियत देना ग़लती है मगर तारीख़ की एक ख़ासियत है कि वह हरकत देखती है सुकून पर नज़र नहीं डालती।

अगर आप मुल्कों की तारीख़, क़ौमों की तारीख़ और शख़सियतों की तारीख़ को पढ़िये तो आपको जंग, हंगामा, शोरिश और आवेज़िशों के हालात बड़े खुले तौर पर मिलेंगे लेकिन इबादतगुज़ारों और ज़ाहिदों की इबादतों, रियाज़तों और मख़लूक़ की तामीर की कोशिशों का तज़किरा अक्सर मिलेगा नहीं और मिलेगा तो ज़िम्नी तौर पर, सरसरी तरीक़े से और इख़्तेसार के साथ।

तारीख़े इस्लाम इससे अलग नहीं हो सकती थी चुनानचे ईरान और रोम की जंगें तारीख़ के पन्नों पर छा गईं। फ़ुतूहश्शाम, वाक़दी और फ़ुतूहुल बुलदान, बलाज़री यह नाम इन ही मौज़ूआत के हामिल हो गये, मगर यहूदियों के बाग़ में पानी सींच कर ज़िन्दगी बसर करने वाला, पैग़म्बरे इस्लाम[स०] का जानशीन इस दौर की तारीख़ में ढूँढे नहीं मिलता। हज़रत अली[अ०] के अलावा दूसरे इमामों की ज़िन्दगी के वाक़िआत तारीख़ के सफ़हात पर नहीं आ सके क्योंकि उनमें कमानों की कड़क, नेज़ों की लचक और तलवारों की चमक न थी मगर ख़ालिद इब्ने वलीद से लेकर अबुमुस्लिम ख़ुरासानी तक जितने जरनल और करनल थे सब तारीख़ी शख़्सियत बने हुए हैं। क्योंकि यह शख़्सियतें दुनिया की बिल्कुल ख़ामोश फ़ज़ा में तूफ़ान पैदा करने की वजह से तारीख़ के मेयार पर पूरी उतरती हैं और ज़ैनुलआबिदीन[अ०], मुहम्मद बाक़िर[अ०], जाफ़र सादिक़[अ०], मूसा काज़िम[अ०] वग़ैरा अपनी इबादत, अपने इल्म, अपनी सच्चाई, अपने ज़ब्ते नफ़्स वग़ैरा सारी ख़ूबियों के बावजूद तारीख़ी मेयार पर पूरे नहीं उतरते इसलिए कि वह अपनी ख़ामोश सीरत के साथ इस्लामी दुनिया की तामीर में कितना हिस्सा ले रहे हों मगर उनकी ज़िन्दगी में सुकून है और सुकून तारीख़ का हिस्सा बनने के क़ाबिल नहीं। इस सूरत में जो इस्लामी तारीख़ तैयार हुई होती उसमें यक़ीनन बस वह ख़ून भरी लड़ाइयाँ होतीं जो इस्लाम को फैलाने के नाम पर जीतों की हैसियत से आस पास के मुल्कों पर फ़ौजी चढ़ाई की सूरत में हुईं और ऐसी तारीख़ से मुसलमान अपनी जगह कितनी ही ख़ुशी महसूस करते मगर ग़ैर क़ौमों की हमदर्दी का कोई सरमाया इनमें नहीं मिल सकता था।

ज़रूरत थी एक ऐसे वाक़िए की जिसमें हो तो जंग की सी हालत, हो आपसी लड़ाई और कशमकश हो, ज़मीन पर बहते हुए ख़ून और तड़पते हुए लाशे, जिसमें जीत और हार भी हो और ग़ालिब और मग़लूब भी मुख़्तसर यह कि वह बातें हों जिनकी वजह से तारीख़ की निगाह उठती है जिनकी वजह से तारीख़ अपने आग़ोश को खोलती और वाक़िआत को जगह दे देती है मगर इस जंग की तह में इस्लाम के सच्चे उसूल की जाज़बियत, उसकी बराबरी और भाइचारगी। उसकी ख़ुदा की मख़लूक़ के साथ हमदर्दी, उसकी अल्लाह और लोगों के हुक़ूक़ की हिफ़ाज़त और उसकी इन्सानियत की तामीर में तमाम कोशिशों का निचोड़ इस तरह छुपा हो कि इस जंग के

साथ-साथ यह तमाम बातें ऐसी ही या इससे बेहतर तारीख़ी ज़िन्दगी हासिल कर लें जेसी मुल्कों को जीतने वाली लड़ाइयों को हासिल हैं।

इस वाक़िए के वजूद से तारीख़े इस्लाम में दूसरी क़ौमों के लिए वही जाज़बियत और ख़िचाव पैदा हो सकेगा जो अस्ल उसूले इस्लाम और पैग़म्बरे इस्लाम[स०] की सीरते ज़िन्दगी में मौजूद था और जिस पर फ़ातेहाना लड़ाइयों ने नफ़रत के जज़्बात का पर्दा डालकर अक़्वामे आलम से ओझल कर दिया था।

वाक़ि-ए-कर्बला बस एक ऐसा ही वाक़िआ था। यह एक जंग थी और जंग भी अनोखी ख़ुसूसियतों और ख़ास नुदरतों की हामिल, जिनकी वजह से किसी दूसरी जंग से ज़्यादा तारीख़ उसको महफ़ूज़ रखने पर मजबूर थी। यहाँ भी खिंची हुई तलवारें थीं, लचकते हुए नेज़े थे, कड़कती हुई कमानें और सन्सनाते हुए तीर थे। ज़मीन पर बहता हुआ ख़ून, कटे हुए सर और तड़पते हुए लाशे और फिर जंग ऐसी जिसमें एक तरफ़ 30 हज़ार और दूसरी तरफ़ 72, एक तरफ़ सैर व सैराब और दूसरी तरफ तीन दिन के भूखे प्यासे, एक तरफ़ लम्बे चौड़े क़द वाले जवान और दूसरी तरफ़ चन्द जवानों के अलावा अस्सी बरस बूढ़े और कम्सिन बच्चे, कौन सी दुनिया की जंग ऐसी हुई होगी जिसमें क़ासिम के ऐसे नाबालिग़ कमसिन का क्या ज़िक्र अली अस्ग़र[अ०] सा दूध पीता बच्चा भी क़ुर्बान हुआ हो।

इसलिए जंग की हैसियत से तारीख़ मजबूर थी कि इस वाक़िए की ख़ासियतों को महफ़ूज़ करे। अब अगर यह जंग भी खुल्लम खुल्ला किसी ग़ैर मुस्लिम पार्टी और दूसरी क़ौम के मुक़ाबले में हुई होती तो ग़ैर क़ौमों को इससे हमदर्दी न पैदा होती बल्कि वह इसे इस्लाम की दूसरी लड़ाइयों के साथ जो दूसरी क़ौमों और दूसरे मुल्कों के साथ हुई हैं जोड़कर इससे ग़ैरियत बल्कि मुख़ासेमत महसूस करतीं मगर इस जंग की ख़ास बात यह थी कि यह रस्मी तौर पर किसी एक मज़हब की हिमायत में दूसरे मज़हब के ख़िलाफ़ न थी बल्कि ज़ाहिरी तौर पर एक ही मज़हब (इस्लाम) के मानने वालों में जो लोग इसके अख़लाक़ और बलन्द तालीमात से हट गए थे उनके ख़िलाफ़ लड़ी गई थी। इसलिए दुनिया की किसी दूसरी क़ौमों को इससे मुख़ासेमत नहीं बल्कि हमदर्दी पैदा होती है और उन्हें इसके हालात मालूम करने का शौक़ पैदा होता है और इसके साथ उनसे इस्लाम के उन उसूल और अख़लाक़ी हदों की पहचान होती है जो हुसैन[अ०] और यज़ीद के बीच फ़ासले की लकीर बनी हुई थी और वह जब हुसैनियत की हमदर्दी के जज़्बे के साथ उन उसूल पर ग़ौर करते हैं तो उनके दिलों पर इस्लाम की अज़मत का सिक्का क़ायम होता है और यही वह मक़सद था जो पैग़म्बरे इस्लाम[स०] के सामने था और जिसको हुसैन[अ०] ने अपने ख़ून से पूरा किया।

यह एक बड़ी ख़ुसूसियत है कर्बला के वाक़िये की जो इसे तारीख़े इस्लाम में बड़ी अहमियत का मालिक बना देती है यानी अगर तारीख़े इस्लाम से वाक़िअ-ए-कर्बला को निकाल दिया जाए तो ग़ैर क़ौमों की हमदर्दी के लिए कोई चीज़ हमारे पास नहीं रह जाती और यह एक हक़ीक़त है कि दुनिया की हर क़ौम को हुसैनी वाक़िआत से हमदर्दी पैदा होती है।

फिर इमाम हुसैन[अ०] ने अपने वाक़िआत के साथ इस्लामी तालीमात को ऐसा मिला दिया कि हुसैनी तारीख़ बग़ैर उन तालीमात के बयान किये हुए तैयार ही नहीं हो सकती और इस तरह इन वाक़िआत के साथ वह तालीमात भी तारीख़ का हिस्सा बन गयीं।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि वाक़िए की तारीख़ी हैसियत एक मख़सूस हालत के साथ जुड़ी हुई है।

ख़मे शम्शीर तारीख़ का जुज़ बनता है मगर ख़ुमे मेहराब नहीं। तीरों की बारिश तारीख़ का ध्यान खींचती है, ख़ुदा के डर से आँसुओं की बारिश नहीं। फड़कती हुई लाशों को तारीख़ देखती है, सजद-ए-इलाही में ज़मीन पर गिरी हुई पेशानियों को नहीं। मगर हुसैन[अ०] ने कर्बला में यह किया कि तीरों की बारिश में नमाज़ जमाअत अदा की। अब क्या मुमकिन है कि तारीख़ इस नमाज़ को नज़रअन्दाज़ कर दे, ख़ंजर की धार के नीचे ख़ालिक़ का सजदा किया। अब क्या मजाल कि तारीख़ इस सजदे से आँख बन्द कर ले।

इस तरह इमाम हुसैन[अ०] ने इस्लामी तालीम को तारीख़ी ज़िन्दगी का लिबास पहना दिया जिसकी मिसाल कर्बला के वाक़िये के सिवा तारीख़े इस्लाम के किसी

वाक़िए में नहीं मिल सकती।

कर्बला में माद्दियत परस्ती और हक़ परस्ती का मुक़ाबला साफ़ नज़र आता है। जब जंग के मैदान में सफ़ें लगायी जाती हैं और शाम की फ़ौज का अफ़सर उमर इब्ने साद तीर चिल्ल-ए-कमान में जोड़कर हज़रत इमाम हुसैन[अ०] की तरफ़ छोड़ता है तो पुकार कर अपनी फ़ौज को आवाज़ देता है कि गवाह रहना, पहला तीर हुसैन[अ०] की फ़ौज की तरफ़ मैं लगा रहा हूँ। यहाँ गवाह किये जा रहे हैं फ़ौज के सिपाही। किस लिए? हाकिमे वक़्त के सामने गवाही देने के लिए। साफ़ ज़ाहिर है कि सिर्फ़ मख़लूक़ की ख़ुशी और दुनिया का फ़ायदा हासिल करना मक़सद है। और उधर जब हुसैन[अ०] का जवान बेटा रुख़सत होके मरने चलता है तो ज़बान पर क्या अलफ़ाज़ आते हैं ''ख़ुदावन्दा गवाह रहना कि अब वह जवान जा रहा है जो सूरत और सीरत में तेरे रसूल[स०] की तस्वीर है।''

साफ़ दिखता है कि जो कुछ किया जा रहा है वह सिर्फ़ अल्लाह के लिए और ख़ुदा की ख़ुशनूदी के लिए।

क्या तारीख़ कर्बला की जंग से इस ख़ुदा परस्ती के मुज़ाहरे को अलग कर सकती है? नामुमकिन है।

इससे बढ़कर यह है कि घरेलू वाक़िआत जिनमें रिश्तेदारों के आपसी हुक़ूक़, घर वालों के साथ बर्ताव, आपसी मुहब्बत और अच्छे बर्ताव के कितने ही रौशन पहलू होंगे मगर तारीख़ उन्हें मुड़कर नहीं देखती।

हज़रत इमाम हुसैन[अ०] कर्बला में अपने अज़ीज़ों को और इस से भी बढ़ कर घर वालों यानी बीवियों और बच्चों को साथ लाए और अब हुसैनी कारनामे के ज़ेल में रिश्तेदारों की रिश्तेदारी के हुक़ूक़, बहन और भाई की ग़ैर मामूली मुहब्बत, शौहर और बीवी की आपसी वफ़ादारियाँ ग़रज़ कि ज़िन्दगी के कितने ऐसे पहलू हैं जिन्हें आम तौर से तारीख़ आपने दाम में लेती ही नहीं।

इसका सच्चा सुबूत चाहते हों तो देखिये कि आख़िर हज़रत इमाम हुसैन[अ०] 10 मुहर्रम 61 हिजरी के पहले भी तो इमाम हुसैन[अ०] ही थे। यक़ीनन आपकी पूरी ज़िन्दगी ही अल्लाह के हुक़ूक़ और लोगों के हुक़ूक़ और रिश्तेदारों के साथ सिल-ए-रहमी और घर वालों के साथ रिआयतों में ऐसी ही मिसाली थी कि जैसी वह कर्बला के मैदान में नज़र आती है मगर क्या बात है कि सत्तावन बरस की उम्र में सिर्फ़ एक ही दिन की कुछ बातें और वाक़िआत हैं जो तारीख़ की ज़बान से हम तक पहुँचते हैं और उस दिन के पहले के सत्तावन बरस के वाक़िआत हरगिज़ मुसलसल और सही तौर पर हमें नहीं मिलते।

अब तो आपको मानना पड़ेगा कि यह सिर्फ़ वाक़िअ-ए-कर्बला की ख़ुसूसियत है कि इसमें जंगी कारनामे के साथ चूँकि ज़िन्दगी के दूसरे पहलू जुड़ गये थे इसलिए उन्हें तारीख़ी ज़िन्दगी हासिल हो सकी और अब आपको वाक़िअ-ए-कर्बला की ख़ास अहमियत क़ुबूल करना पड़ेगी जिसने इस्लामी तहज़ीब के हर इज्तेमाई और इन्फ़ेरादी, समाजी और मन्ज़िलती पहलू को इस तरह तारीख़ का हिस्सा बना दिया जो बग़ैर इसके बिल्कुल नामुमकिन था।



मेरा अक़ीदा है कि इस्लाम की तरक्क़ी उसके मानने वालों की तलवारों की मुहताज नहीं बल्कि हुसैन[अ०] जैसे औलिया-ए-किराम की क़ुर्बानी का नतीजा है। (महात्मा गाँधी)

कर्बला का वाक़िअ-ए-शहादत तारीख़े इन्सानी का वह वाक़िआ है जिसे कभी भुलाया नहीं जा सकता। (डॉ० राजेन्द्र प्रसाद)

हक़ और सच्चाई को ज़िन्दा रखने के लिए हथियारों और फ़ौजों के बजाए जानों की क़ुर्बानी पेश करके कामयाबी हासिल की जा सकती है। (डॉ० राधा कृष्णन)

हज़रत इमाम हुसैन[अ०] की शहादत की दास्तान इन्सानियत की तारीख़ का एक बहुत ही क़ीमती वरक़ है। (डॉ० ज़ाकिर हुसैन)